शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : २

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

दु:खी

मेरा सुख पर में है—ऐसी जिसकी बुद्धि है वह जीव, भले ही उसके पास करोड़ों रुपये हों और मेवा-मिष्टान्न खाता हो, तथा सोने के हिंडोले में झूलता हो, तथापि आकुलता से दु:खी ही है। आनंदधाम ऐसे स्वतत्त्व की महिमा छोड़कर पर की महिमा की, वही दु:ख है।

(सुखशक्ति के प्रवचन से)

—पूज्य गुरुदेव!

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१३४

एक अंक
चार आना

श्रीजैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

श्रुतवत्सल संत-त्रिपुटी द्वारा रक्षित तीर्थंकरदेव का दिव्य उत्तराधिकार

[श्रुतपंचमी-महोत्सव]

दो श्वेत-उज्ज्वल वृषभ चले आ रहे हैं... आकर भक्तिपूर्वक चरणों में नमस्कार कर रहे हैं... किसी शुभ घड़ी में ऐसा मंगल स्वप्न दिखाई दे रहा है।

वे स्वप्नदृष्टा हैं महामुनिराज धरसेनाचार्यदेव।

अल्पनिद्रा में वह मंगलसूचक दृश्य देखकर वे संतुष्ट होते हैं।

'जय हो श्रुतदेवता की....' ऐसा आशीर्वाद उन श्रुतवत्सल संत के मुखकमल से निकल पड़ता है।

'आज से शताब्दियों पूर्व का यह पावन प्रसंग है।

इस पावनप्रसंग की जन्मभूमि थी सौराष्ट्र के गिरनार तीर्थ की चन्द्रगुफा!

दूसरे दिन प्रात:काल धर्म-धुरी का भार वहन करने में समर्थ ऐसे दो मुनिराज आते हैं... वे भक्ति और विनयपूर्वक महामुनिराज धरसेनाचार्यदेव के चरणों में नमस्कार करते हैं।

तीन दिन बाद परीक्षा करके उनकी उत्तम बुद्धि और उत्तम धैर्य से प्रसन्न होकर उन्हें महावीर भगवान का परम्परागत दिव्यश्रुत पढ़ाते हैं। सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित महास्रोत मुनिवरों के हृदय में भर रहे हैं।

इसप्रकार भगवान धरसेनाचार्य द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि-दोनों मुनिवरों को अषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन परिपूर्ण ज्ञान अर्पण कर दिया जाता है और देव आकर उन 'श्रुतधरों' की पूजा करते हैं।

पश्चात्, तीर्थंकर भगवान की ओर से परम्परागत प्राप्त हुए ज्ञाननिधान का वह अपूर्व उत्तराधिकार सदैव अक्षुण्ण रहे - उसके लिये पुष्पदंत और भूतबलि दोनों आचार्य भगवन्त उस ज्ञान को ''षटखण्डागम'' की रचना द्वारा शास्त्रारूढ़ करते हैं और उसे उपकरण मानकर अंकलेश्वर में चतुर्विध संघसहित महामहोत्सवपूर्वक उस श्रुत की पूजा करते हैं।

जब से यह पुनीत प्रसंग हुआ, तभी से वह दिन '' श्रुतपंचमी '' के रूप में प्रसिद्ध है, और आज भी जैनसमाज में उल्लासपूर्वक यह दिन मनाकर श्रुत के प्रति भक्ति व्यक्ति की जाती है।

—वह धन्य दिवस था ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी!

तीर्थंकर भगवान का उत्तराधिकार प्रदान करनेवाली उस '' श्रुतवत्सल संत-त्रिपुटी '' की जय हो।

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : २

कुछ स्पष्टता

''कारणशुद्धपर्याय'' के प्रवचनों की लेखमाला इस अंक से प्रारम्भ हो रही है। यह विषय बिलकुल भिन्न शैली का है, तथापि इस बार प्रवचनों में पूज्य गुरुदेव ने खास स्पष्टीकरण किया है; इसलिये कई जिज्ञासुओं का आग्रह होने से उसे 'आत्मधर्म' में प्रकाशित किया जा रहा है। इन प्रवचनों को प्रकाशित होने से पूर्व पूज्य गुरुदेव ने पढ़ लेने की कृपा की है।

इस विषय में क्रमबद्धपर्याय की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्मता है.....इसलिये, जिज्ञासुजन मात्र परोक्ष पठन से ही यह बात समझ लेने का संतोष न मानकर, सीधे गुरुगम से समझने का लक्ष रखें—ऐसा नम्र आग्रह है।

पुनश्च, पूज्य गुरुदेव के ऐसे आध्यात्मिक प्रवचनों में से चोरी करके कुछ मानार्थी उपदेशक इस बात को अपने नाम से या अपने माने हुए कुशास्त्रों के नाम से घोषित करते हैं और इसप्रकार भोले जीवों को भरमाने का प्रयत्न करते हैं;—ऐसे दम्भी उपदेशकों से सावधान रहने का जिज्ञासुओं से आग्रह है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की दिगम्बर जैन आम्नाय की परम्परा के सिवा अन्यत्र कहीं भी आत्मस्वभाव की ऐसी यथार्थ बात हो ही नहीं सकती।

कारणशुद्धपर्याय

कार्यनियम और कारणनियम

[नियमसार गाथा ३ के प्रवचन]

पूज्य गुरुदेव

देखो, यह संतों की वाणी! वन की गुफा में रहकर दिगम्बर मुनिवरों ने आत्मा के अनुभव में लेखनी डुबा-डुबाकर यह भाव निकाले हैं। छट्ठे-सातवें गुणस्थान में आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनियों के अन्तर की गहराई से यह भाव प्रगट हुए हैं। अहो! संत अपूर्व उत्तराधिकार छोड़ गये हैं। शुद्धरत्नत्रयरूपी जो तेरा कर्तव्य है, उसका कारण तेरे स्वभाव में ही प्रवर्तमान है; अंतर में जब देख तब मोक्षमार्ग का कारण तुझमें प्रवर्तमान ही है। इस कारण को पहिचानकर उसके साथ एकता करने से मोक्षमार्गरूपी कार्य हो जाता है। अंतर में कारण-कार्य की एकता साधते-साधते इस टीका की रचना हो गई है। देखो तो सही! टीकाकार ने कैसे भाव निकाले हैं!! वन में बैठे-बैठे सिद्धों के साथ बातें की हैं.....

[-पूज्य गुरुदेव]

यह नियमसार की वचनिका हो रही है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस नियमसार में अलौकिक भाव भरे हैं; और पद्मप्रभु मुनिराज ने भी टीका में अध्यात्म के अलौकिक भाव प्रगट किये हैं। 'नियमसार' अर्थात् क्या—वह तीसरी गाथा में कहते हैं—

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥

'नियम' अर्थात् नियम से जो करने योग्य हो वह; अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र वह नियम है, और उससे विपरीत के परिहारार्थ वास्तव में 'सार'—ऐसा वचन कहा है।

यथार्थरूप से करने योग्य जो रत्नत्रय हैं, वह नियम है।—किन्तु ऐसा कहने से व्यवहार-रत्नत्रय के राग को भी कोई मोक्ष का कारण न मान बैठे, इसलिये आचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि-'नियम' के साथ 'सार' शब्द कहकर हमने विपरीत का परिहार किया है; अर्थात् निश्चयरत्नत्रय से विपरीत ऐसे व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु बंधमार्ग है—ऐसा बतलाया है। मोक्ष के लिये कर्तव्य हो तो वह रागरहित शुद्धरत्नत्रय ही है; इसके अतिरिक्त शुभरागरूप जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह सचमुच कर्तव्य नहीं है, मोक्ष का कारण नहीं है।

अहो! निश्चय सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धरत्नत्रय है, वही मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठे, वह भी निश्चयरत्नत्रय से विपरीत है, इसलिये वह परिहार करने योग्य है, अर्थात् उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है।—ऐसा जानकर उस व्यवहार का अवलम्बन छोड़ने जैसा है। निश्चयरत्नत्रय, वह मोक्षमार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत अर्थात् बंधमार्ग है। व्यवहार करते-करते उसके आश्रय से निश्चयरत्नत्रय हो जायेगा—ऐसा जो मानता है, उसने विपरीत का परिहार नहीं किया, किन्तु विपरीत का आदर किया; इसलिये उसकी श्रद्धा विपरीत हुई है।

यहाँ शुद्धरत्नत्रय को नियम से कर्तव्य कहा, तो उस कर्तव्य का कारण कौन? — शुद्धरत्नत्रयरूप नियम, वह मोक्षमार्ग है—कार्यरूप है। कर्तव्यरूप जो कार्यनियम, उसका कारण कौन?—उसका यहाँ टीका में स्पष्टीकरण किया है। कारण उसे कहते हैं जिसके आश्रय से कार्य प्रगट हो। जिसप्रकार कार्य वर्तमान है, उसीप्रकार उसके आश्रयभूत कारण भी वर्तमान है।

यहाँ बात तो करना है मोक्षमार्ग की; किन्तु टीका में साथ ही साथ उसका 'कारण' भी बतलाकर अलौकिक बात कही है।

❀ 'नियमसार' अर्थात् स्वभावरत्नत्रय;

❀ उस स्वभावरत्नत्रय के दो प्रकार—एक कारणरूप, और दूसरा कार्यरूप; यहाँ उनका कारणनियम और कार्यनियमरूप से वर्णन करते हैं।

''जो सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित, स्वभावअनंतचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतना -परिणाम हैं, वह कारणनियम है।'' और

''निश्चय से जो करनेयोग्य है, अर्थात् प्रयोजनरूप है - ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह कार्यनियम है।''

देखो, यह कारणनियम और कार्यनियम की अद्भुत व्याख्या! कारणनियम तो सर्व जीवों में त्रिकाल प्रवर्तमान है, वह कहीं नवीन नहीं करना पड़ता, किन्तु उस कारणनियम का भान करने से उसके आश्रय से कारणनियमरूप मोक्षमार्ग नवीन प्रगट होता है, और वही वास्तव में कर्तव्य है।

मोक्षमार्ग कैसे होता है ?—वह बात भी इसमें आ गई। कोई पर के आश्रय से, राग से या व्यवहाररत्नत्रय के अवलम्बन से मोक्षमार्ग नहीं होता, इसलिये वे कोई मोक्षमार्ग के कारण नहीं है; अंतर में शुद्ध कारण सदैव प्रवर्तमान है, उस कारण के आश्रय से ही मोक्षमार्गरूपी कार्य प्रगट होता है।

मूल सूत्र में तो "णियमेण य जं कज्जं...." अर्थात् "नियम से जो कर्तव्य है..." ऐसा कहकर आचार्यदेव शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बतलाना चाहते हैं; और टीकाकार मुनिराज ने उस मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ उसके कारण का भी वर्णन करके अद्भुत टीका की है। जिसप्रकार समयसार में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ऐसी शैली से टीका की है कि मूल सूत्र में अस्ति की बात हो तो साथ ही नास्ति की बात करते हैं, और नास्ति की बात हो तो साथ ही अस्ति की बात करते हैं– इसप्रकार अलौकिक टीका की है; उसीप्रकार इस नियमसार में पद्मप्रभ मुनिराज ने कार्य के साथ ही त्रैकालिक कारण की–(कारणशुद्धपर्याय की) बात करके टीका में अलौकिक रहस्योद्घाटन किया है। यह अपूर्व बात है; अनेक जीवों ने तो जीवन में यह बात सुनी भी नहीं होगी।

जीव को नियम से करने योग्य जो कार्य, वह नियम है। कौन–सा कार्य नियम से कर्तव्य है ? प्रथम शरीरादि जड़ पदार्थों के कार्य तो आत्मा से पृथक् हैं, वे कहीं जीव के कार्य नहीं है, इसलिये उनकी तो बात ही नहीं है। दूसरे, मिथ्यात्व और राग–द्वेषरूपी कार्य अनादि से क्षण–क्षण करके जीव संसारपरिभ्रमण कर रहा है, वह भी जीव का सच्चा कर्तव्य नहीं है। जिससे संसार का अभाव हो और परमानन्दरूप मोक्षदशा प्रगट हो – ऐसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय ही नियम से कर्तव्य है; इसलिये शुद्धरत्नत्रय, वह नियमसार है। शुद्धरत्नत्रयरूपी जो नियम से करने योग्य कार्य, उस कार्य का कारण कौन ? – वह यहाँ बतलाते हैं।

आत्मा में सहज–अनन्त चतुष्टयमय शुद्धज्ञान–चेतनापरिणाम त्रिकाल है, वह सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित है, और वही रत्नत्रय प्रगट होने का मूल कारण है। इस कारण के मनन से कार्य प्रगट होता है, अर्थात् उसकी दृष्टि करके एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है।

यह ''शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम'' परमपारिणामिकभाव से स्थित है और स्वभावरूप अनन्तचतुष्टयमय है। तेरहवें गुणस्थान में जो केवलज्ञानादि चतुष्ट प्रगट होते हैं, उनकी यह बात नहीं है, किन्तु यह तो सर्व जीवों के त्रिकाल स्वभावअनंतचतुष्टयमय शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम है, उसकी बात है। यह जो स्वभावअनंतचतुष्टय कहे, वे पारिणामिकभावरूप हैं और केवलज्ञानादि -चतुष्टय प्रगट होते हैं, वे तो क्षायिकभावरूप हैं।

जीव को मोक्षमार्ग का प्रयोजन है; वह मोक्षमार्ग किसके आश्रय से प्रगट होता है—वह यहाँ बतलाना है। जो सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित है और स्वभावअनंतचतुष्टयात्मक है—ऐसे शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। यहाँ जो शुद्धज्ञानचेतना -परिणाम कहे, वे त्रिकाल पारिणामिकभावरूप हैं, औदयिकादि चार भावों से वे निरपेक्ष हैं और द्रव्यदृष्टि के विषय हैं। चेतना के तीन प्रकारों में जो ज्ञानचेतना है, वह तो पर्यायरूप है, कार्य है और व्यवहारनय का विषय है। त्रैकालिक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम, वह कारणनियम है और उसके अवलम्बन से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है।

देखो, यह संतों की वाणी!! वन की गुफा में रहकर दिगम्बर मुनिवरों ने आत्मा के अनुभव में लेखनी डुबा-डुबाकर यह भाव निकाले हैं। छट्ठे-सातवें गुणस्थान में आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनियों के अनुभव की गहराई से यह भाव प्रगट हुए हैं। अहो! यह संतों की अपूर्व देन है। शुद्धरत्नत्रयरूपी जो तेरा कर्तव्य, उसका कारण तेरे स्वभाव में ही प्रवर्तमान है। अंतर में जब देख तब मोक्षमार्ग का कारण तुझ में प्रवर्तमान ही है। इस कारण को पहिचानकर उसके साथ एकता करने से मोक्षमार्गरूपी कार्य हो जाता है। अंतर में कारण-कार्य की एकता साधते-साधते इस टीका की रचना हो गई है। देखो तो सही! टीकाकार ने कैसे भाव निकाले हैं!! वन में बैठे-बैठे सिद्धों के साथ बातें की हैं! 'हे सिद्धभगवान! आप कैसे कारण से सिद्ध हुए हैं?'—''अंतर में जो सहज शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम त्रिकाली कारण है, उस कारण के आश्रय से ही मोक्षमार्ग प्रगट करके सिद्ध हुए हैं।'' स्वयं भी ऐसे कारण का सेवन करके सिद्धदशा की साधना कर रहे हैं,—ऐसे मुनियों ने इस टीका की रचना की है।

नियमसार अर्थात् शुद्धरत्नत्रयरूप जो मोक्षमार्ग है, वह किसी बाह्य कारण से प्रगट नहीं होता, व्यवहार का राग या देह की क्रिया—वह कोई मोक्षमार्ग का कारण नहीं है, किन्तु अंतर में परिपूर्ण कारणरूप से अपने शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम प्रवर्तमान हैं, वही मोक्षमार्ग का कारण है-ऐसा

बतलाकर आचार्यदेव ने व्यवहारावलम्बन की बुद्धि छुड़ाई है। शुद्धरत्नत्रयरूप जो निश्चयमोक्षमार्ग है, उसे मोक्ष का कारण कहना—वह भी व्यवहारकारण है, क्योंकि उस पर्याय के आधार से कहीं मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती। शुद्धरत्नत्रय-वह मोक्षमार्ग तो निश्चय से है, किन्तु उस निश्चयमोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहना, वह व्यवहार है। सहजशुद्धज्ञानचेतना-परिणाम—कि जिसका आगे कारणशुद्धपर्याय कहकर वर्णन करेंगे—वह मोक्ष का निश्चय-कारण है, उसके आधार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्षदशा प्रगट हो जाती है। मोक्षदशा में भी उस कारण का अभाव नहीं होता, मोक्षदशा में भी वह सदैव साथ ही साथ रहता है।

त्रैकालिक सामान्यरूप ध्रुव और उसका वर्तमान-वर्तमान वर्तता हुआ विशेषरूप ध्रुव-दोनों अभेद हैं और द्रव्यदृष्टि के विषय है। जिसप्रकार सहज परमपारिणामिक भाव त्रिकाल ध्रुवरूप हैं, उसीप्रकार उन पारिणामिकभावों में स्थित ऐसे यह स्वभावचतुष्टयमय शुद्धज्ञानचेतना -परिणाम भी ध्रुवरूप हैं, कारणनियमरूप हैं; प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल एकरूप स्थित हैं; वे पारिणामिकभावरूप हैं। उनमें परिणमन कहा जाता है, किन्तु वह परिणमन सदृशरूप है, संसार और मोक्षपर्याय की भाँति उत्पाद-व्ययरूप परिणमन उनमें नहीं है।-ऐसा कारणस्वभाव अंतर्दृष्टि का विषय है। ऐसे कारण को पहिचाने तो निर्मल कार्य (सम्यग्दर्शनादि) हुए बिना न रहे।

अपने मोक्ष का कारण अपनी पास सततरूप से-निरंतर प्रवाहित है। भीतर कारणरूप शक्ति त्रिकाल विद्यमान है, उसके सेवन से मोक्षमार्ग प्रगट होता है, इसके अतिरिक्त बाह्य व्यवहारकारण के आश्रित तेरा मोक्षमार्ग नहीं है। जिसप्रकार मोर होने की शक्ति उसके अण्डे में विद्यमान है; इसलिये उसमें से मोर होता है; उसीप्रकार चैतन्य की शक्ति में परमात्मदशा का सामर्थ्य विद्यमान है, उसी में से परमात्मदशा प्रगट होती है। अपने आत्मा की शक्ति का विश्वास और महिमा आना चाहिये कि परमात्मशक्ति मुझमें ही विद्यमान है, कहीं बाहर से वह कार्य प्रगट नहीं होना है। यहाँ तो, ''शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम'' कहकर सामान्य ध्रुव के साथ विशेष ध्रुव बतलाना है, वह निकट का कारण है, उसे ''कारणनियम'' कहा है, और कारणनियम में अनन्त मोक्षपर्याय प्रदान करने का सामर्थ्य है। पारिणामिकभाव परम उत्कृष्ट स्वभाव से परिपूर्ण है, और उसमें स्थित ऐसा स्वभाव -अनन्तचतुष्टयस्वरूप सहज शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम, वह कारणनियम है; और 'कारणनियम' कहकर मुनिराज ने दूसरे कारणों का अभाव बतलाया है अर्थात् रागादिव्यवहारकारण, वे वास्तव में कारण नहीं हैं-ऐसा समझाया है। अंतर में सहजपारिणामिक त्रिकालभाव और उसके

शुद्धचेतनापरिणाम, वह निश्चयकारण है; उस कारण के आश्रय से नियम से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। कार्यनियम के साथ कारणनियम की बात करके अद्भुत रहस्य का स्पष्टीकरण किया है। कारणनियमरूप स्वभाव प्रत्येक आत्मा में प्रवर्तमान ही है, उस ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से कार्यनियमरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।—इसप्रकार अपना अंतर्मुख स्वभाव ही कारण है। जिसप्रकार कार्य वर्तमान है, उसीप्रकार उस कार्य के आधाररूप ध्रुवकारण भी वर्तमान है। जिसप्रकार सामान्य द्रव्य त्रिकाल ध्रुव है, उसीप्रकार उसका विशेषरूप वर्तमान-वर्तमान ध्रुव भी वर्तता है; यदि वर्तमान परिपूर्ण कारणरूप से ध्रुव न वर्तता हो तो मोक्षमार्गरूपी कार्य प्रगट होने का सामर्थ्य कहाँ से आयेगा? जो निर्मल कार्य है, वह वर्तमान वर्तते हुए ध्रुवकारण के साथ अभेद होता है। यहाँ 'सामान्य ध्रुव' और 'विशेष ध्रुव'—ऐसा कहकर कहीं ध्रुव के दो भाग नहीं बतलाना हैं, किन्तु ध्रुवस्वभाव की परिपूर्णता बताना है। त्रैकालिक सामान्य जिसप्रकार ध्रुव है, उसीप्रकार उसका वर्तमान विशेष भी ध्रुव है, उसी के आश्रय से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है, इसलिये उसे कारण अर्थात् 'कारणशुद्धपर्याय' कहते हैं। त्रैकालिक अभेद स्वभाव का बल वर्तमान में भी ज्यों का त्यों है। वह दृष्टि का विषय है, किन्तु उसका वेदन नहीं होता, वेदन तो उसके आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उसका होता है।

धरती में भीतर का भाग अच्छा हो, किन्तु ऊपरी सतह क्षारयुक्त हो तो उसमें वृक्ष नहीं उगता; धरती का भीतरी भाग भी अच्छा हो—और ऊपरी सतह भी अच्छी हो तो उसके आधार से वृक्ष उगता है। उसीप्रकार आत्मा में त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव का भीतरी भाग तो शुद्ध है, और उसकी वर्तमान सतह भी वैसी ही शुद्ध है—उसके आधार से मोक्षमार्गरूपी वृक्ष उगता है। 'वर्तमान' कहने से यहाँ वर्तमान में वर्तती हुई उत्पाद-व्यययुक्त पर्याय नहीं लेना चाहिये। वर्तमान ध्रुव-आश्रय विद्यमान हैं—इसप्रकार यहाँ भीतरी आश्रय बतलाना है।

अहो! चैतन्यभगवान, ध्रुवज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण परमपारिणामिकभाव है, उसके सहज चेतनापरिणाम भी वर्तमान-वर्तमान ध्रुव हैं। भाई! तू अन्तर में जब देख तब मोक्ष का कारण तेरे पास वर्तमान में ही विद्यमान है, उसे नया उत्पन्न नहीं करना पड़ता; उस कारण के आश्रय से कार्य प्रगट हो जाता है। कारण कहीं बाह्य में ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ता। जब देख तब ज्यों का त्यों ध्रुव वर्तमान में तेरे पास ही विद्यमान है; उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता करना, वह मोक्षमार्ग है। ध्रुवकारण तो त्रिकाल विद्यमान है, और उसे पहिचानने पर मोक्षमार्ग नया प्रगट होता है। मोक्षमार्ग-

शुद्धरत्नत्रय, वह कार्यनियम है और ध्रुवस्वभाव, वह कारणनियम है। कारणनियम को बनाना नहीं पड़ता, वह तो त्रिकाल है। जब देखो तब अंतर में आत्मा कारणनियमरूप से शोभायमान है; उसके अंतरर्मुख अवलोकन से कार्यनियम प्रगट हो जाता है।—ऐसा कार्यनियमरूप मोक्षमार्ग प्रगट करना ही नियम से जीव का कर्तव्य है।

भाई! तेरे अंतर में कैसे भण्डार भरे हैं, उसकी यह बात है। जिसप्रकार लक्ष्मी की रुचिवाले रागी प्राणी को कोई हीरे-मोतियों का भण्डार बतलाये तो कितनी रुचिपूर्वक देखता है; उसीप्रकार जिसे आत्मा की रुचि है, उसे यहाँ मुनिराज अंतर के भण्डार बतलाते हैं। भाई! तेरा भण्डार ऐसा है जिसमें से मोक्ष के अनंत निधान प्रगट हों! अंतर्नेत्रों को खोलकर देखे तभी खबर पड़े न? तेरा भण्डार तुझे खोलकर बतला रहे हैं। अंतर के भंडार को देख तो अपने मोक्ष के लिये बाह्य कारण ढूँढ़ने का व्यर्थ प्रयत्न न करना पड़े। जिसे अपनी अंतर्शक्ति का विश्वास नहीं है, और बाह्य में कारणों को ढूँढ़ता है, उससे कहते हैं कि अरे जीव! तेरे मोक्षमार्गरूपी कार्य का कारण स्वभावरत्नत्रय त्रिकाल तेरे पास ही है, उसके आश्रय से तेरा कार्य प्रगट हो जायेगा। इसके अतिरिक्त अन्य किसी कारण के अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं हो सकता।

प्रत्येक आत्मा में परमात्मदशा प्रगट होने की शक्ति है, इसलिये प्रत्येक आत्मा कारणपरमात्मा है। ''कारणपरमात्मा'' कहने से त्रिकाली द्रव्यगुण और उसके वर्तमानरूप कारण -शुद्धपर्याय—तीनों आ जाते हैं। यहाँ कारणशुद्धपर्याय को (शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम को) 'कारणनियम' कहकर मोक्षमार्ग के कारण की एकदम निकटता बतलाना है। द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय-इन तीनों का कहीं पृथक्-पृथक् अवलम्बन नहीं है; सम्यग्दर्शनादि में उन तीनों की अभेदता का ही अवलम्बन है। इस वर्तमान ध्रुवरूप कारणशुद्धपर्याय के बिना द्रव्य की वर्तमान में परिपूर्णता सिद्ध नहीं होती—द्रव्य की अखण्डता सिद्ध नहीं होती।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल—इन चार द्रव्यों में अनादि-अनन्त एक-सा परिणमन है, सदैव पारिणामिकभाव से उनकी पर्याय वर्तती है; सबको जाननेवाला ज्ञायकतत्त्व जीव है, उसकी संसार या मोक्षरूप उत्पाद व्ययवाली पर्यायें हैं, वे सदैव एकरूप नहीं हैं, उन उत्पाद-व्ययरहित ध्रुवरूप ऐसी कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनन्त पारिणामिकभाव से जीव में वर्तती है। केवलज्ञानादि प्रगट होने की यह बात नहीं है किन्तु यह तो त्रिकाली की बात है। संसार और मोक्ष—यह दोनों पर्यायें अव्यवस्थित हैं अर्थात् वे त्रिकाल एकरूप नहीं हैं; संसार के समय

मोक्षपर्याय नहीं होती और मोक्ष के समय संसारपर्याय नहीं होती—इसप्रकार उनका विरह है—जबकि यह कारणशुद्धपर्याय तो सदैव एकरूप व्यवस्थित है। द्रव्य में त्रिकाल अभेदरूप होने से उसका कभी विरह नहीं है; वह उत्पाद-द्रव्यरहित ध्रुवपरिणति है। धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों में तो उत्पाद-व्ययवाली परिणति पारिणामिकभाव से सदैव एकरूप है, और जीव में उत्पाद-व्ययरहित ध्रुवपरिणति पारिणामिकभाव से एकरूप है। उसकी उत्पाद-व्ययरूप पर्याय में एकरूपता नहीं है किन्तु विविधता है। कभी मिथ्यात्वादि संसारपर्याय, कभी सम्यग्दर्शनादि साधकदशा, और कभी पूर्ण शुद्धतारूप सिद्धदशा-इसप्रकार खण्ड-खण्ड हैं किन्तु एकरूपता नहीं है। वह खण्डरहित एकरूप ध्रुवपरिणति है, उसे यहाँ ''शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम'' कहा है, वह सदैव एकरूप पारिणामिकभावस्वरूप है।

मोक्षमार्ग की पर्याय को अथवा क्रोधादि कषायों की पर्याय को कभी-कभी पारिणामिकभावरूप कहा जाता है, उसमें तो दूसरी ही विवक्षा है। क्रोधादि भाव को कर्म नहीं कराते किन्तु जीव स्वयं करता है अर्थात् वह जीव का अपना परिणमन है, इसलिये उसे पारिणामिकभावरूप भी कहा जाता है; तथापि उसमें निमित्तरूप से तो कर्मोदय आदि की अपेक्षा है।—जबकि इस कारणशुद्धपर्याय में तो निमित्तरूप से भी कर्म की अपेक्षा नहीं है, वह तो कर्मोदयादि की अपेक्षारहित सदैव पारिणामिकभावरूप वर्तती है। औदयिकादि चारों भाव निमित्तसापेक्ष हैं, और यह कारणशुद्धपर्याय तो पारिणामिकभाव की निरपेक्ष परिणति हैं।

धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों के परिणमन में अल्पता, अधिकता या विपरीतता नहीं है; उनमें तो सदैव समानता ही है। उन सबका ज्ञाता तो आत्मा है, और आत्मा में संसार, मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष—यह कोई पर्याय त्रिकाल एकरूप नहीं है, तो उनके अतिरिक्त सदैव एकरूप भाव कौन-सा है जिसके आश्रय से एकाग्रता हो सके?—वह यहाँ बतलाना है। चारों द्रव्यों के अखण्ड पारिणामिकभाव को जाननेवाला तो आत्मा है, इसलिये स्वयं आत्मा में भी एक ध्रुवपरिणति अनादि-अनंत एकरूप शुद्धपारिणामिक भाव से वर्तती है। द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय—यह तीनों अखण्डरूप से द्रव्यार्थिकनय का पूर्ण विषय है। यह जैनदर्शन की मूल बात है, इसके बिना द्रव्य की वर्तमान अखण्डता सिद्ध नहीं होती। दृष्टि का विषय वर्तमान में पूर्ण नहीं होता। जीव की पर्याय में संसार या मोक्ष—ऐसी विसदृशता होने पर भी द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय की एकरूपता कभी नहीं टूटती। जैनदर्शन कहो या वस्तुदर्शन कहो—उसी की यह बात है। यह

अलौकिक बात है। अहो! सनातन वीतरागमार्ग के संत-मुनियों ने सर्वज्ञ भगवान के अंतरंग रहस्यों का उद्घाटन किया है।

प्रश्नः—कारणशुद्धपर्याय की ऐसी स्पष्टता इस नियमसार में ही क्यों आई?

उत्तरः—इस नियमसार में मुख्यरूप से मोक्षमार्ग का और मोक्ष का कथन है; वे दोनों शुद्ध पर्यायें हैं; इसलिये उस शुद्धपर्यायरूपी कार्य के साथ उसके कारणरूप 'कारणशुद्धपर्याय' की बात इस नियमसार की टीका में स्पष्ट आई है।

नियमसार का अर्थ है नियम से कर्तव्य; कौन-सा कर्तव्य?—तो कहते हैं कि शुद्धरत्नत्रय। उस शुद्ध कार्य के कारणरूप ''कारणशुद्धपर्याय'' बतलाकर टीकाकार ने अद्भुत बात कही है। द्रव्य के साथ सदैव अभेद ऐसी यह ''कारणशुद्धपर्याय'' वह निकट का कारण है, उस कारण के अवलम्बन से मोक्षमार्गरूपी शुद्ध कार्य प्रगट होता है। ''शुद्धकारण'' के मनन से ''शुद्धकार्य'' प्रगट होता है।

टीकाकार ने प्रारम्भ में मंगलाचरण के पाँचवें श्लोक में कहा था कि—यह परमागम के अर्थसमूह गुणों को धारण करनेवाले गणधरों द्वारा रचे गये हैं और श्रुतधरों की परम्परा से भलीभाँति व्यक्त किये गये हैं; इसलिये गणधरादि गुरुओं की परम्परा से मुझे जो अर्थ प्राप्त हुए हैं, वे ही मैं कहूँगा।

पुनश्च १०० वीं गाथा की टीका में कहते हैं कि ''साक्षात् शुद्धोपयोग-सन्मुख जो मैं, परमागमरूपी पुष्प रस जिसके मुख से झर रहा है ऐसा पद्मप्रभ, उसके शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा विद्यमान है।'' टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि - मेरे मुख से परमागमरूपी पुष्प का रस झर रहा है, इसलिये यह जो टीका रची जा रही है, वह परमागम का निचोड़ है, परमागम का सार है।

देखो यह रचना! यह किसी साधारण पुरुष की रचना नहीं है, किन्तु गणधर परम्परा से चली आ रही और छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनि के अंतरंग से निकली हुई अद्भुत रचना है। स्वयं न समझा सकने से टीकाकार का दोष निकालना, वह तो महामूढ़ता और स्वच्छन्द है। भाई! साधारण जीवों को मुनियों का हृदय समझना कठिन है।

यहाँ ''नियमसार'' अर्थात् स्वभावरत्नत्रय की बात चल रही है।

स्वभावरत्नत्रय दो प्रकार का है—

(१) कार्यरूपस्वभावरत्नत्रय,

(२) कारणरूपस्वभावरत्नत्रय

(१) जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के रत्नत्रय हैं, वे कार्यरूप हैं, उन्हें 'कार्यनियम' कहते हैं; और (२) उस मोक्षमार्ग के कारणरूप ऐसे कारणस्वभावरत्नत्रय हैं, वे त्रिकाल हैं, उन्हें 'कारणनियम' कहते हैं।

कैसा है वह कारणनियम? सहज परमपारिणामिकभावरूप में स्थित है और स्वभावअनंतचतुष्टय स्वरूप है।

देखो यह कारण! मोक्षमार्गरूपी जो कार्य, उसका यह कारण है। कारणनियम कहो अथवा कारणशुद्धपर्याय कहो—दोनों एक ही हैं,—''कारणशुद्धपर्याय'' को ''पूजित पंचभावपरिणति'' भी कहेंगे; यहाँ उसे ''शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम'' कहते हैं। यहाँ मात्र ''शुद्धज्ञान'' अथवा ''शुद्धज्ञानचेतना'' ऐसा न कहकर ''परिणाम'' शब्द साथ रखकर ''शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम'' कहते हैं। ''परिणाम'' कहने पर भी वे क्षणिक उत्पाद-व्ययरूप नहीं हैं, किन्तु एकरूप पारिणामिकभाव स्वरूप हैं; वे मोक्षमार्गरूप नहीं हैं किन्तु उसके ध्रुवकारणरूप हैं। कार्यस्वभावरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग तो क्षायिकादि भावस्वरूप है और कारणस्वभावरत्नत्रयरूप जो यह ''शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम'' हैं, वे तो सहज पारिणामिकभावरूप हैं।

❀ व्यवहाररत्नत्रय के जो रागादि विभाव हैं, वे न तो मोक्षमार्ग हैं और न मोक्षमार्ग के कारण भी हैं;

❀ यह कारणस्वभावरत्नत्रय मोक्षमार्ग नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग के कारण हैं, इसलिये उन्हें ''कारणनियम'' कहा जाता है।

❀ कारणनियम के आश्रय से जो शुद्धरत्नत्रयपर्याय प्रगट हो, वह मोक्षमार्ग है, उसे कार्यनियम कहा जाता है।

❀ मोक्षमार्गरूप जो कारणनियम शुद्धरत्नत्रयपर्याय है, वह तो द्रव्य का आश्रय करके नई उत्पन्न हुई है, और यह जो शुद्धज्ञानचेतनापरिणामरूप कारणनियम (कारणशुद्धपर्याय) है, वह कहीं द्रव्य का आश्रय करके नया प्रगट नहीं है; वह तो द्रव्यस्वभाव में परमपारिणामिकभावरूप से सदैव स्थित ही है। नया प्रगट होना उसमें नहीं है, किन्तु उसका भान करनेवाले जीव को मोक्षमार्ग

नया प्रगट होता है। जगत में तो मोक्षमार्ग अनादि-अनंत चल ही रहा है, किन्तु उस जीव को अपने लिये मोक्षमार्ग का नया प्रारम्भ हुआ है।

जिसप्रकार समुद्र में जलराशि की सतह एक-सी होती है, उसीप्रकार आत्मा में कारणशुद्धपर्याय सदैव एक-सी है, उसे उदयादि की अपेक्षा लागू नहीं होती; वह विशेष पारिणामिकभावरूप है, आत्मा में सदैव सदृशरूप से वर्तती है। यह कारणशुद्धपर्याय प्रत्येक गुण में भी है। वायु के निमित्त से समुद्र के पानी में तरंगें उठती हैं, वे तो ऊपरी हिलोरें हैं, जल की राशि देखें तो वह एकरूप ही है। उसीप्रकार आत्मा में रागादि विकारीभाव अथवा उनके अभाव से प्रगट होनेवाली निर्मल पर्यायें हैं, वे सब अपेक्षितभाव हैं, क्षणिक उत्पाद-व्ययरूप हैं; उन क्षणिक भावों के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। जिसप्रकार समुद्र में जल की राशि, जल का शीतल स्वभाव और उसकी सतह—तीनों की अभेदतारूप समुद्र है; वे तीनों सदैव ज्यों के त्यों रहते हैं; उसीप्रकार आत्मा चैतन्यसागर है; उसमें आत्मद्रव्य, उसके ज्ञानादि गुण और उसका ध्रुवरूप वर्तमान अर्थात् कारण-तीनों मिलकर वस्तुरूप की पूर्णता है, वही परमपारिणामिकभाव है, और उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। आगे [गाथा १० से १५ में] यह बात विस्तारपूर्वक आयेगी।

इसमें मुख्य बात यह है कि सम्यग्दर्शनादि कार्य वर्तमान पर्याय में होते हैं। तो उस वर्तमान का कारण भी वर्तमानरूप ही बतलाना है। निकट से निकट परिपूर्ण कारण विद्यमान है; अंतरोन्मुख होकर स्वयं उस कारण का अवलम्बन करे इतनी ही देर है। कारण तो सदैव शुद्ध ही है, उसमें एकता करने से शुद्धकार्य प्रगट हो जाता है।

यह कारणशुद्धपर्याय सदैव त्रिकाली द्रव्य के परमपारिणामिकस्वभाव में लीनतारूप वर्तती है। वह कभी गौण नहीं होती, कभी एक समय मात्र भी उसका विरह नहीं है; दृष्टि के विषय में भी वह अभेदरूप से आ जाती है। अन्तर्मुख स्वभाव की ओर ढलने में द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय—इन तीनों की अभेदता का अवलम्बन होता है, और उनके अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें प्रगट हो जाती हैं। वे पर्याय उत्पाद-व्ययरूप हैं-चैतन्य का परिपूर्ण ध्रुवपिंड वर्तमान में कारणरूप से प्रवर्तमान हो रहा है, उसमें एकाग्र होकर उसका मनन करने से मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है।

ध्रुव कारण के अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, वह कार्यनियम है—अर्थात् वही सच्चा करनेयोग्य कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त जो राग का या व्यवहार का अवलम्बन है, वह सच्चा

कर्तव्य नहीं है। मोक्षमार्ग में साथ ही साथ व्यवहाररत्नत्रय भी होता है, किन्तु वह कर्तव्य नहीं है। जो व्यवहाररत्नत्रय के राग को कर्तव्य मानता है, वह जीव मोक्षमार्ग में आया ही नहीं; नियमरूप कर्तव्य अर्थात् मोक्षमार्ग क्या है, उसकी उसे खबर तक नहीं है।

समयसार की बारहवीं गाथा में कहा है कि जाना हुआ व्यवहार उस काल प्रयोजनवान है;—अर्थात् साधकदशा में भूमिकानुसार जिस काल जो व्यवहार हो, वह जाननेयोग्य है, क्योंकि निश्चय और व्यवहार को यथावत् जाने तभी वे प्रमाण होते हैं। इस आशय से उसे उस काल ''जाना हुआ'' व्यवहारनय प्रयोजनवान है-ऐसा कहा है, किन्तु व्यवहारनय आदरणीयरूप से प्रयोजनवान है-ऐसा नहीं कहा है। व्यवहारनय के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि है। आचार्य भगवान ने जो व्यवहारनय का आश्रय छुड़ाकर निश्चयनय के आश्रय से ही मोक्ष का होना स्पष्टरूप से बतलाया है; उसे भूलकर इस बारहवीं गाथा आदि के विपरीत अर्थ करके अज्ञानी जीव अपनी विपरीत दृष्टि का पोषण करते हैं। यहाँ भी आचार्यदेव स्पष्टरूप से कहते हैं कि—निश्चयरत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, इसलिये वही नियम है, और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत है; उस विपरीत के परिहारार्थ अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा बतलाने के लिये ''नियम'' के साथ ''सार'' शब्द रखा है। व्यवहाररत्नत्रय, वह नियम नहीं है - कर्तव्य नहीं है—मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु बाधकरूप से बीच में आ जाता है। कारणपरमात्मा के अवलम्बन से जो वीतरागी निश्चयरत्नत्रय प्रगट हो, वह नियम है—कर्तव्य-मोक्षमार्ग है।

—इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय ही नियम से मोक्षमार्ग है और वही सारभूत है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप

यहाँ जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय है, उसे नियम से कर्तव्य कहा है; उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप क्या है, वह अब बतलाते हैं। उन में प्रथम सम्यग्ज्ञान क्या है वह कहते हैं:—

''परद्रव्य के अवलम्बन रहित निःशेषरूप से अंतर्मुख योग-शक्ति में से उपादेय ऐसा जो निज परमतत्त्व का परिज्ञान-वह ज्ञान है।'' आत्मा को सम्यग्ज्ञान होने में किसी भी परद्रव्य का अवलम्बन नहीं है, अंतर में अपना जो परमात्मतत्त्व है, उसमें योग करना अर्थात् ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके उस परमतत्त्व को ही उपादेय करना, वह सम्यग्ज्ञान है।

देखो, यह मोक्षमार्ग का सम्यग्ज्ञान!! इस ज्ञान में निमित्त का या राग का किंचित् अवलम्बन नहीं है; शास्त्रों के ज्ञातृत्वरूप व्यवहारज्ञान के अवलम्बन से भी यह ज्ञान नहीं होता, मात्र अंतरस्वभाव में निकटता से ही यह ज्ञान होता है। दूसरी गाथा में कहा था कि आत्मा की मुक्ति का मार्ग समस्त परद्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष है, शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष है। व्यवहाररत्नत्रय तो परावलम्बन से ही है; इसलिये निरपेक्ष नहीं है; वह सच्चा मार्ग नहीं है। मार्ग तो परम निरपेक्ष है। सम्यग्दर्शन भी परम निरपेक्ष है, सम्यग्ज्ञान भी परम निरपेक्ष है और सम्यग्चारित्र भी परम निरपेक्ष है। चौथे गुणस्थान के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी ऐसे ही हैं।

सम्यग्ज्ञान अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान... रागरहित ज्ञान। वह ज्ञान मात्र अंतर्स्वभाव को ही उपादेय करके उसका अवलम्बन करता है और अन्य सबसे निरपेक्ष रहता है;—इसप्रकार उस ज्ञान में परावलम्बन की नास्ति है और स्वभाव में ही अन्तरोन्मुखता की अस्ति है। उपादेयस्वरूप ऐसा जो अपना परम स्वभाव है, उसका अन्तरोन्मुख होकर अवलम्बन लिया, वहाँ अन्य सबका अवलम्बन छूट गया है, इसलिये कहा है कि परद्रव्य का अर्थात् निमित्त का, राग का या व्यवहार का अवलम्बन किये बिना उपयोग को एकदम अन्तर्मुख करने पर निज परमतत्त्व का जो यथार्थ ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है; वह सम्यग्ज्ञान अपने शुद्धपरमात्मस्वभाव को ही उपादेय मानता है। वह सम्यग्ज्ञान पर्याय है, कार्य है; और वह कार्य नया प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, उसका यह एक अवयव है। मोक्ष के लिये ऐसा सम्यग्ज्ञान कर्तव्य है।

—इसप्रकार सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहा; अब सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं:—

''भगवान परमात्मा के सुखाभिलाषी जीव को शुद्ध अंत:तत्त्व के आनन्द का जन्मभूमि स्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय, उससे उत्पन्न होनेवाला जो परमश्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है।'' देखो, सम्यग्दर्शन की अलौकिक व्याख्या! आत्मा के आनन्द का जन्मभूमिस्थान जो शुद्ध जीवास्तिकाय, उसी में से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। कहीं बाह्य आश्रय से सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। यह भगवान परमात्मा स्वयं अतीन्द्रिय सुख का सागर है; उस परमात्मसुख का जो अभिलाषी है, ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन होता है, उसी की यह बात है। सम्यग्दर्शन होते ही उसके आनन्दविलास का जन्म होता है। उस आनन्द का जन्मभूमिस्थान कौन-सा?—तो कहते हैं कि अपना शुद्धजीवस्वभाव ही उस आनंद की उत्पत्ति का जन्मभूमिस्थान है। ऐसे शुद्धात्मा की परमश्रद्धा करना, सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होते ही, भगवान सिद्धपरमात्मा को जैसा सुख है, वैसे ही सुख का अंश सम्यक्त्वी के अपने वेदन में—स्वाद में आ जाता है। अहो! मेरे असंख्य प्रदेशों में आनन्द का जन्म हुआ!! मेरे आत्मा के असंख्य प्रदेश ऐसे ही आनन्द से भरपूर हैं—ऐसी अंतर्मुख प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान में अस्ति-नास्ति दोनों की बात की थी और इस सम्यग्दर्शन में मात्र अस्ति की बात की है। ज्ञान के विषय में अस्ति-नास्ति दोनों आते हैं, इसलिये ''परावलम्बन रहित'' और ''नि:शेषरूप से अंतर्मुख''—ऐसा कहकर सम्यग्ज्ञान में अस्ति-नास्ति दोनों का वर्णन किया है। और श्रद्धा तो निर्विकल्प है, उसके विषय में दो भेद नहीं हैं; इसलिये सम्यग्दर्शन के वर्णन में मात्र अस्ति की ही बात की है। आनन्द की उत्पत्ति का धाम ऐसी जो शुद्धजीवसत्ता, उसकी निर्विकल्प प्रतीति, सो सम्यग्दर्शन है।

अपना असंख्यप्रदेशी शुद्धजीवास्तिकाय-वह शुद्ध अंतर्तत्त्व के विलास का-आनन्द का जन्मभूमि स्थान है; किन्तु किसके उस आनन्द का जन्म होता है?—जो जीव भगवान परमात्मा के अतीन्द्रिय सुख का अभिलाषी है उसे। जिसे इन्द्रिय विषयों की या पुण्य की मिठास नहीं है किन्तु शुद्ध तत्त्व के आनन्द की अभिलाषा है, वह जीव अन्तर्मुख होकर आनन्द का अनुभव करता है। शक्ति में से आनन्द का नया जन्म होता है। उस आनन्द की जन्मभूमि कौन सी?-असंख्यप्रदेशी निज शुद्ध जीवास्तिकाय ही आत्मा के आनन्द की जन्मभूमि है। देखो यह जन्मभूमि! उदर में हो तो जनम होता है; उसीप्रकार आत्मा के अंतर उदर में आनन्दस्वभाव भरा है, उसी में से आनन्द का जन्म होता है। अरे जीव! बाह्य में तेरा आनन्द नहीं है। तेरा आत्मा ही तेरे आनन्द की जन्मभूमि है।

अंतरंग आनन्द के विलास का उत्पत्तिस्थान अपना शुद्ध परमात्मतत्त्व ही है और उससे उत्पन्न होनेवाली जो परम श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। अहो! ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में आनन्द का जन्म हुआ। असंख्यप्रदेश सुख में डूब गये हैं। आनन्द का जन्म धाम असंख्यप्रदेशी निजपरमात्मतत्त्व ही सम्यग्दर्शन का कारण है। इसमें यह बात भी आ गई कि सम्यग्दर्शन होने से ऐसे आनन्द का जन्म होता है, असंख्यप्रदेशों में अंशतः शुद्धता प्रगट हो जाती है। अंतर्स्वभाव के आश्रय से जो सम्यक्श्रद्धा प्रगट हुई उसे ''परमश्रद्धान'' कहकर यहाँ मोक्षमार्ग का निश्चयसम्यग्दर्शन बतलाना है। अंतर में ऐसी दशा प्रगट करे, तब तो वह जीव चौथे गुणस्थान का अविरति सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा होता है, और मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। ऐसे निश्चयसम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन होने की योग्यता में यहाँ ''भगवान परमात्मा के सुख का अभिलाषी जीव'' लिया है। मूढ़ अज्ञानी जीव, शरीर का सुख, कुटुम्ब का सुख, खान-पान का सुख, पैसे का सुख-इसप्रकार इन्द्रिय विषयों में सुख मानते हैं किन्तु ''भगवान परमात्मा का सुख'' कैसा होता है, उसे जानते भी नहीं। बाह्य विषयों से रहित परम आत्मिक सुख.... आत्मा का अतीन्द्रिय सुख... उसकी जिसे अभिलाषा है—ऐसे जीव को आनन्द की जन्मभूमिरूप अपने शुद्ध आत्मा की श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्ग का एक अंग है; मोक्ष के लिये यह सम्यग्दर्शन कर्तव्य है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-यह दोनों एक साथ होते हैं, किन्तु उनके विषय में अंतर है। सम्यग्ज्ञान के विषय में स्व-पर दोनों आते हैं; ज्ञान स्वपरप्रकाशक है; और सम्यक्श्रद्धा निर्विकल्प है, उसके विषय में (-प्रतीति में) अकेला शुद्ध आत्मा ही आता है। ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्चारित्र का अंश भी होता है।

''मोक्षमार्ग'' कहने से उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों आ जाते हैं; उनमें से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया है; अब सम्यक्चारित्र का वर्णन करते हैं।

''निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारणपरमात्मा में अविचल स्थिति ही चारित्र है।'' यहाँ जो निश्चय ज्ञान-दर्शन कहे हैं, उन्हें त्रैकालिक स्वभावरूप समझना। कारणपरमात्मा सदैव ज्ञान-दर्शनस्वरूप है। ऐसे स्वरूप में एकाग्र होकर स्थिर हो जाना, वह सम्यक्चारित्र है। इसके अतिरिक्त स्वरूप से च्युत होकर पंचमहाव्रतादि २८ मूलगुण सम्बन्धी जो शुभराग होता है, वह वास्तव में

चारित्र नहीं है; वह तो औदयिकभाव है। ज्ञानदर्शनमय कारणस्वभाव-सन्मुख होकर जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान होते हैं, उसे उसी में अविचल स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र भी होता है। कारणपरमात्मा में ऐसी स्थिरता ही मोक्षमार्ग का सम्यग्चारित्र है; इसके अतिरिक्त शुभरागरूप व्यवहारचारित्र, वह मोक्षमार्ग नहीं है।

''यह ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप नियम, निर्वाण का कारण है। उस ''नियम'' के साथ विपरीत के परिहारार्थ ''सार'' शब्द जोड़ दिया है। देखो, यह जैनदर्शन का मोक्षमार्ग! जैनदर्शन के सिवा दूसरों में तो मोक्षमार्ग है ही नहीं; और जैनदर्शन में भी इन निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सिवा अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो शुद्धरत्नत्रय है, वही मोक्षमार्ग है; वही ''नियमसार'' है; इसके अतिरिक्त पराश्रय से जितने भाव होते हैं, वे कोई मोक्षमार्ग नहीं है; व्यवहाररत्नत्रय का शुभ विकल्प भी पराश्रय से होता है; इसलिये वह भी मोक्षमार्ग नहीं है। यहाँ नियम के साथ ''सार'' कहकर आचार्यदेव ने उन समस्त पराश्रितभावों को मोक्षमार्ग से निकाल दिया है।-इसप्रकार शुद्धरत्नत्रय से विपरीत ऐसे व्यवहाररत्नत्रय के विकल्पों का भी परिहार करके निश्चयरत्नत्रयरूप जो मोक्षमार्ग है, उसका इस शास्त्र में वर्णन किया है। जिनशासन में तो ऐसा मोक्षमार्ग सर्वज्ञदेव ने कहा है।

निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, वह मोक्ष का कारण है। देखो, यह भी व्यवहार है।-किसप्रकार?—मोक्षमार्गरूप जो पर्याय है, उसका व्यय होकर मोक्षपर्याय प्रगट होती है, वह मोक्षपर्याय ध्रुवस्वभाव में से प्रगट होती है, इसलिये निश्चय से तो ध्रुवपरमात्मा ही मोक्ष का कारण है, और मोक्षमार्ग की पर्याय को मोक्ष का कारण कहना, वह व्यवहार है। निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना, वह कहीं व्यवहार नहीं है; वह मोक्षमार्ग तो निश्चय से ही है, किन्तु उसे मोक्ष का कारण कहना, वह व्यवहार से है। अरे! निश्चयरत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहना भी जहाँ व्यवहार है, तब फिर व्यवहाररत्नत्रय की तो बात ही क्या? वह तो मोक्ष का कारण है ही नहीं। आत्मा के सहज स्वभाव में विद्यमान जो ''कारणनियम'' है, वह सदा शुद्ध है; उस कारणनियम का भान करके उसका आश्रय करने से ''कार्यनियम'' अर्थात् शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और मोक्षदशा प्रगट हो जाती है और वही कर्तव्य है।

''कारण'' और ''कार्य'' की अद्भुत सन्धि

दर्शानेवाले सन्तों को नमस्कार.....

अमृत की वर्षा

आज अमृत की वर्षा हुई... आज उपशांतरस से भरपूर अमृत की वर्षा हुई...

भगवान महावीर परमात्मा के असंख्यप्रदेशरूपी निर्मल आकाश में से आज दिव्यध्वनि के मेघ छूटे!

छियासठ-छियासठ दिनों से प्यासे चातक की भाँति तड़पते हुए भव्य जीव वह अमृत वर्षा झेलकर शांत हुए... तृप्त हुए... आनन्दित हुए।

''श्रावण कृष्णा प्रतिपदा''—आज का धन्य दिवस हुआ... उदास दिखाई देनेवाला विपुलाचल पर्वत आज सुवर्ण से भी उज्ज्वल हो गया।

अहा! कैसा होगा वह धन्य प्रसंग!! भगवान के चरणों में बैठकर दिव्यध्वनि के अमृत का साक्षात् पान करनेवाले वे जीव कितने भाग्यशाली होंगे!! इन्द्रभूमि गौतम के आनंद की क्या बात!! कहाँ वह गई कल की दशा? और कहा आज का गणधरपद!! कैसा जीवन परिवर्तन!!

अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत से तृप्त-तृप्त होकर भगवान ने वह अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों के कानों में डाला... गौतम गणधर जैसे संतों ने उसे झेला... और भावी भव्य जीवों के लिये उसे बारह अंगों में भर दिया!

उस पावन प्रसंग का स्मरण होने पर आज भी भव्य मुमुक्षुओं को उग्र आतुरता होती है कि अहो! भगवान ने यह कैसा अमृत पिलाया होगा कि जिसका पान करने से जीवों के जीवन बदल गये!!

हमारे सद्भाग्य से आज २५१३ वर्ष के पश्चात् भी पूज्य गुरुदेव हमें उस अमृत का स्वाद चखा रहे हैं!

श्री सोनगढ़ जैन विद्यार्थी-गृह के लिये २५००१, रुपयों का दान

इस ज्येष्ठ सुद ६ को राजकोट के सेठ श्री मोहनलाल कानजीभाई घीया की धर्मपत्नी स्व. जेकुंवरबेन के स्वर्गवास की वार्षिक तिथि थी; इस अवसर सेठश्री मोहनलाल कानजीभाई घीया की ओर से स्व. जेकुंवरबेन के स्मरणार्थ सोनगढ़ जैन विद्यार्थी-गृह के भवन के लिये दान किये गये हैं; इसके लिये वे धन्यवाद के अधिकारी हैं।

हे जीव!

एक क्षण भी अपने स्वरूप का विचार कर!

यह तत्त्वज्ञान तरंगिणी का दसवाँ श्लोक है, इसमें कहते हैं कि—आत्मा शुद्ध चिद्रूप है; इसके सिवा अन्य कुछ आत्मा नहीं हैं; और देहादिक कोई भी पदार्थ आत्मा के नहीं हैं; इसलिये शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के चिन्तवन सिवा अन्य पदार्थों की चिन्ता व्यर्थ है। देह से भिन्न मेरा चिदानन्दस्वरूप क्या है, उसका हे जीव! तू विचार कर।

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति तत्त्व है, वह इस देह से भिन्न है। सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए आत्मा का स्वरूप जीवों ने कभी एक क्षण भी नहीं जाना। आत्मा को पहिचाने बिना पूर्वकाल में पाप और पुण्य के भाव करके चारों गतियों के अवतार में अनन्त बार भटक चुका है। आत्मा नया नहीं हुआ है किन्तु अनादिकालीन है, है और है। उसे न तो किसी ने बनाया है और न उसका कभी नाश होता है। तो अभी तक आत्मा कहाँ रहा? कहते हैं कि स्वर्ग-नरक के और पशु तथा मनुष्य के अवतार में अभी तक भटका है। तीव्र दंभ, कुटिलता और वक्रता करने से तिर्यंच होता है; उसका शरीर आड़ा होता है। महा तीव्र पाप करे, वह मरकर नरक में जाता है। कुछ सरलता आदि पुण्यपरिणामों से मनुष्य होता है और दयादि के विशेष शुभपरिणामों से देवलोक में जाता है। किन्तु मेरा ज्ञानस्वरूप क्या है, देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व का स्वरूप क्या है, उसके भान बिना भवभ्रमण दूर नहीं होता। इसलिये यहाँ आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है-वह समझाते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी छोटी-सी उम्र में कहते हैं कि—

''हुं कोण छुं क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वलगणा छे? राखुँ के ए परिहरुं?''

जामनगर के जाम साहब ने जब उपदेश देने को कहा, तब उनके बँगले पर यह पद उन्हें सुनाया था। श्रीमद् राजचन्द्र को सात वर्ष की उम्र में जातिस्मरण ज्ञान हुआ था; इस भव से पहले मैं किस भव में था, उसका भान हुआ था। उन्होंने सोलह वर्ष की उम्र में ''मोक्षमाला'' की रचना की थी; उसमें १०८ पाठ हैं; उसमें ''अमूल्य तत्त्वविचार'' के पाठ में पाँच छन्द हैं, उसका एक छन्द है, उसमें कहते हैं कि—

''हुँ कोण छुँ? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वलगणा छे? राखुं के ए परिहरुं!
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञानना सिद्धान्ततत्त्वो अनुभव्यां।''

अरे जीवो! अन्तर में एक क्षण विचार तो करो कि इस देह में विद्यमान आत्मा क्या वस्तु है? बाह्य लक्ष्मी और राज्य तो पूर्व पुण्य से प्राप्त होते हैं, उनमें कहीं आत्मा का हित नहीं है; किन्तु अंतर में चैतन्यलक्ष्मी का भान करके आत्मा के साम्राज्य की प्राप्ति करना ही सच्चा राज्य है; उसी में आत्मा की शोभा और हित है। अंतर में विचार करे तो पूर्व भव का ज्ञान भी हो सकता है। इस देह का संयोग तो अभी हुआ है; इसके पहले भी आत्मा अन्य कहीं था। शरीर तो नये-नये बदलते हैं और आत्मा अनादिकाल से वह का वही है; तो उसका वास्तविक स्वरूप क्या है?—ऐसे स्वरूप का विचार और निर्णय कभी एक क्षण भी नहीं किया है।

ज्ञानी कहते हैं कि अहो! मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ; शुद्ध चिद्रूप आनन्दस्वरूप के सिवा इस जगत में अन्य कुछ भी मेरा नहीं है और न मैं किसी का हूँ। शरीर मेरी वस्तु नहीं है, और भीतर जो रागादि की वृत्तियाँ होती हैं, वे क्षणिक हैं, वह भी मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। मैं शुद्ध चिद्रूप ही हूँ, इसके सिवा अन्य कुछ मैं नहीं हूँ। अरे भगवान! अपने ऐसे स्वरूप का विचार तो कर। भाई! तूने जो लौकिक अध्ययन किया है, उसमें तेरा हित नहीं है; किन्तु आत्मा के स्वरूप का अंतर्विचार करके उसका अध्ययन करे—उसे पहिचाने तो तेरा हित हो और भवभ्रमण से छुटकारा मिले। एक छोटे-से ग्राम में एक किसान पूछता था कि ''महाराज! इस भव के अवतार का कहीं अंत होगा? इस दु:ख का कहीं घाट होगा? तब ऐसा लगा था कि भाई! तूने बड़ा अच्छा प्रश्न किया। भाई, जिस प्रकार तालाब में घाट होता है, उसी प्रकार इस भवभ्रमण का भी घाट है; किन्तु अंतर में देह से भिन्न आत्मा का चिदानन्दस्वरूप क्या है, उसकी पहिचान करे तो अपने को भव के अन्त की झन्कार आ जाये!

(एक बार श्री कानजीस्वामी ने १६-१७ वर्ष की उम्र में कविता बनाई थी, जिसमें ऐसी झन्कार आई थी कि—)

''शिवरमणी रमनार तुं... तुं... ही देवनो देव...''

—अंतर में ऐसी स्फुरणा आई कि—अरे आत्मा! तू कौन है? ''शिवरमणी रमनार

तु''—अर्थात् पुण्य-पाप के विकार रहित जो निर्मल परिणतिरूपी शिवरमणी, उसके साथ तू रमण करनेवाला है; अंतर के निर्विकारी आनन्द का उपभोग करने का तेरा स्वभाव है। और ''तू ही देवनो देव''—हे आत्मा! जो सर्वज्ञ हुए, वे वहाँ से हुए? आत्मा के स्वभाव में से ही हुए हैं; तेरे आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति है, इसलिए ''तू ही देवनो देव।'' आत्मा में पूर्ण सर्वज्ञ होने का स्वभाव विद्यमान है। देखो, यह आत्मा की झन्कार! अंतर में एक बार तो विचार करो कि मैं कौन हूँ? वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधर भगवान विराजमान हैं; उनके उपदेश में आत्मा का स्वरूप सुनकर छोटे-छोटे आठ वर्ष के राजकुमार भी अंतर में उसका विचार करके अपूर्व आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अंतर के शुद्ध-चिदानंद तत्त्व का विचार करके उसका अनुभव करना, वह इस जन्म-मरण के फेरे से छूटने का उपाय है।

धर्मात्माओं को जन्म-मरण में भटकते हुए प्राणियों पर दया आती है। स्वर्ग के देवों को पुण्य का वैभव आता है; उसे देखकर भी ज्ञानी को उनकी दया आती है कि अरे रे! यह प्राणी आत्मा के भान बिना जीवन पूरा करके चौरासी के अवतार में नरक निगोद में भटकेंगे। लोग कहते हैं कि दया पालन करो! किन्तु भाई! आत्मा के भान बिना तेरा आत्मा इस भवभ्रमण में भाव मरण से मर रहा है और अनंत दुःख भोग रहा है, उसकी तो दया पाल! अरे रे! अब मेरा आत्मा इस अवतार से कैसे छूटे? इस भयंकर भावमरण के त्रास से मेरा आत्मा कैसे मुक्त हो? उसका अंतर में विचार तो कर! पाप के फल में दुःखी हो रहे पशु आदि को देखकर तो जगत् के अनेक जीवों की दया आती है; किन्तु ज्ञानी को तो पुण्य का फल भोगनेवाले देवों पर भी दया आती है; क्योंकि आत्मा के भान बिना पुण्य के फल में लीन हो गये हैं; इसलिये वे पापबंध करके पशुगति में जायेंगे। आत्मभान के बिना देव भी दुःखी हैं। इसलिये हे भाई! यदि इस भवभ्रमण से तुझे थकान मालूम हुई हो तो अब अंतर में विचार कर कि मेरा स्वरूप क्या है? इस देह से भिन्न मेरा आत्मा क्या वस्तु है? ऐसा विचार करके सत्समागम से उसकी पहिचान करना, वह भव-भ्रमण से छूटने का उपाय है। संयोग मैं नहीं हूँ और पुण्य-पाप भी मैं नहीं हूँ; मैं तो चिदानंदस्वरूप आत्मा हूँ; शुद्ध चिद्रूप के सिवा अन्य कुछ भी मेरा नहीं है; शरीर मेरा नहीं है, वाणी मेरी नहीं है और भीतर जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उठती हैं, वह भी मेरा तत्त्व नहीं है; मेरा तत्त्व तो अंतर में नित्य स्थायी चिदानन्दस्वरूप है।—ऐसा विचार भी जीव ने कभी नहीं किया है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे! ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त करके जो आत्मा का भान नहीं करते, सत्-समागम से उसका विचार भी नहीं करते वे तो ''मनुष्यरूपेण

मृगाश्चरंति।'' भले ही बाह्य शिक्षा चाहे जितनी प्राप्त की हो, किन्तु मैं आत्मा कौन हूँ—उसकी शिक्षा न ली हो तो सारी शिक्षा व्यर्थ है; उसमें कहीं आत्मा का हित नहीं है। इसलिये हे भाई! यह मनुष्यअवतार पाकर आत्मा के स्वरूप का विचार कर। तेरा आत्मा अनादि-अनंत आनन्दकन्द है; उसके लक्ष बिना कुसंग में अनन्तकाल बिता दिया, किन्तु अब तो सत्समागम से आत्मा का विचार कर। यह शरीर तो चला जायेगा। बाल, युवा या वृद्ध—यह तो शरीर की अवस्थाएँ हैं; वह तेरा स्वरूप नहीं है; तू तो देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप है। जिसप्रकार चने के प्रत्येक दाने में जो मिठास की शक्ति भरी है, उसी में से वह प्रगट होती है; उसीप्रकार तेरे आत्मा में आनन्द की शक्ति विद्यमान है; अन्तर्मुख अवलोकन करने पर उसी में से आनन्द व्यक्त होता है। अनादि से ऐसे स्वरूप की पहिचान एक क्षण भी नहीं की। सत्समागम से आत्मा के स्वरूप का श्रवण करके उसका विचार और निर्णय करना, इस भवभ्रमण से छूटने का उपाय है।

[केरालग्राम में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन : वीर संवत् २४८० वैशाख शुक्ला ५]

प्रौढ़ उम्र के गृहस्थों के लिये जैनदर्शन शिक्षण-वर्ग

इस साल गुरुवार ता. ९-८-५६ से ता. २९-८-५६ तक तत्त्वज्ञान के अध्ययनार्थ सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग का प्रारंभ होगा। वर्ग में सम्मिलित होने के इच्छुक जिज्ञासु जैन बंधुओं को अपने आने की अग्रिम सूचना प्रेषित कर देना चाहिये और निश्चित की हुई अवधि के दरमियान आ जाना ही चाहिये।

इस बार शिक्षण-वर्ग में जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्गप्रकाशक (अध्याय ९) तथा प्रवचनसार ज्ञेय-अधिकार में से कुछ भाग का अध्ययन आरंभ किया जायगा।

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

सुखी

अहो! आत्मा आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण है—ऐसे आत्मा की ओर देखे तो दुःख है ही कहाँ? आत्मा के आश्रय से धर्मात्मा निःशंक सुखी है कि—भले ही शरीर का चाहे जो हो, या सारा ब्रह्माण्ड ही पलट जाये, तथापि उसका दुःख मुझे नहीं है; मेरी शांति-मेरा आनन्द आत्मा के ही आश्रित है। मैं अपने आनन्द-सागर में डुबकी लगाकर लीन हुआ, वहाँ मेरी शांति में विघ्न डालनेवाला जगत में कोई नहीं है। इसप्रकार धर्मात्मा, आत्मा के आश्रय से सुखी है।

(—सुखशक्ति के प्रवचन से)
— पूज्य गुरुदेवश्री

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी